THE TIMES OF INDIA

Date: 25-02-26

Vote Or Not. Your Choice

SC bats for compulsory voting. But the Constitution calls voting an entitlement. That can't be compulsory

TOI Editorial

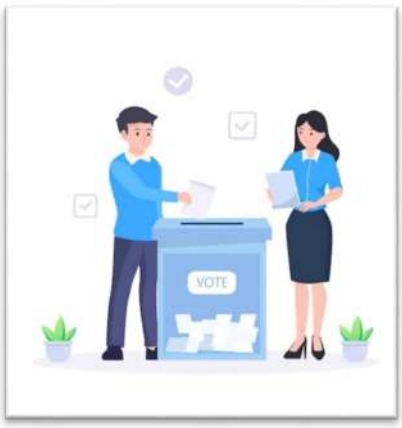

Two years ago, about 65cr Indians voted in LS polls. That turnout was more than the populations of US and Indonesia-3rd and 4th most populous countries-combined. But it was only 66% of India's 98cr-strong electorate at the time. That means one of every three registered voters stayed away. Nobody disputes that bigger turnouts approaching 100% - would make our democracy more representative, but is compulsory voting the way to reach that goal? This idea has been discussed and rejected in Parliament several times over the past 75 years. So, it's noteworthy that CJI said yesterday there's a "need to issue some kind of compulsory but not harsh mechanism to ensure that people go and vote." We, respectfully, disagree.

Voting in India has always been a right, never a duty or obligation of the citizen. You can vote, you should vote, but you don't have to vote. The Constitution calls it an "entitlement": "Every person who is a citizen of India...shall be entitled to be registered as a voter at any such election." Compulsory voting doesn't jell with that promise. Look at it another way. If voting is expression of a citizen's will, it must be protected by the freedom of expression, which includes the choice to remain silent. That is, not vote.

Countries like Australia have made voting compulsory. Not voting there draws a mild penalty of AU $20. But India is different. Our main problem isn't that people don't want to vote the exception being many urban well-off voters - but that they often can't vote. A 2019 TOI campaign called 'Lost Votes' highlighted how 28cr migrants had been unable to cast votes in 2014 because they were working far from their home states. Instead of making voting compulsory, India needs to remove these hurdles to voting. The turnout will jump.

THE ECONOMIC TIMES

Date: 25-02-26

Striking at the Heart of Terror

ET Editorial

Despite long being both a victim of terrorism and a key actor in combating it, India has never articulated a comprehensive counterterrorism policy. Its response has remained fragmen- ted and operationally driven, lacking an overarching strategic framework. The newly released National Counter-Terrorism Policy and Strategy seeks to fill this wide gap, recognising the networked, adaptive and multi-domain nature of contemporary terrorist groups, and advancing a framework that is anticipatory rather than reactive and strategic rather than episodic.

The document recognises multiple risks across land, air, sea and cyber domains, including threats from drones, dark web financing and CBRNED (Chemical, Biological, Radiological, Nuclear and Explosive Devices). The re- sponse is based on seven pillars-prevention, response, capacity building, human rights, attenuating conditions conducive to terrorism, international alignment and recovery (PRAHAAR). It adopts a whole- of-government approach that stresses the integration of capacities, aligns and shapes international efforts, underscores a commitment to the rule of law, and promotes a whole-of-society approach to recovery and resilience.

Gol rightly reiterates that terrorism cannot be ascribed to any religion, ethnicity, nationality or civilisation. This clarification is important, especially as the document notes that 'few countries in the region have sometimes used terrorism as an instrument of state policy'. Though the implications are clear, the text underscores India's unequivocal denunciation of, and zero tolerance for, terrorism. As a strong first step, the frame- work would be further strengthened by more explicit integration of digital and financial counterterrorism mechanisms.

दैनिक भास्कर

Date: 25-02-26

हमारे सुरक्षा बलों को सतर्क रखेगा 'प्रहार'

संपादकीय

सरकार की नई आतंकवाद विरोधी नीति स्वागतयोग्य है। हालांकि इसके सात स्तम्भों में से एक भी ऐसा नहीं, जो पहले से ही इस दशकों पुराने खतरे से लड़ने के लिए सरकार की एजेंसियों के कर्तव्य में शामिल न रहा हो।

लेकिन नक्सलवाद के खात्मे के बाद गृह मंत्रालय ने उचित ही यह सोचा है कि इन कर्तव्यों को एक लक्षित नारे के रूप में लाया जाए, ताकि सुरक्षा बल सतर्क रहें। अब आतंकवाद अपने मकसद के लिए डिजिटल हमले का भी सहारा लेने लगा है। केंद्र और राज्य की एजेंसियों ने हाल में पाया कि आतंकवादी संगठन रिक्रूटमेंट और इनडॉक्ट्रिनेशन (मत रोपण) के लिए डिजिटल मोड का उपयोग कर रहे हैं। ऐसे अंतरराष्ट्रीय संगठन लक्षित देशों के डिजिटल गवर्नेंस को भी बर्बाद करने के मंसूबे बना रहे हैं। वित्तीय संस्थाएं/बैंकिंग/स्टॉक एक्सचेंज / एविएशन इनके सहज टारगेट्स बन सकते हैं। सरकार के लिए जरूरी था कि इस नए खतरे के मद्देनजर त्वरित प्रतिक्रिया के लिए तैयार रहे। उधर चूंकि आतंकवादी संगठनों के क्रियाकलाप का आयाम वैश्विक हो चुका है, लिहाजा इससे लड़ने के लिए अन्य देशों से समझौते भी करने होंगे। हालांकि 'प्रहार' में आतंकवाद की परिभाषा नहीं दी है। नस्लीय भेदभाव (पूर्वोत्तर के लोगों के साथ शेष भारत में होने वाला), क्षेत्रीय टकराव (दक्षिण बनाम उत्तर भारतीय), धार्मिक आतंकवाद (हिन्दू-मुस्लिम), उप-धार्मिक आतंकवाद (शिया-सुन्नी), जातीय उग्रवाद (कुकी बनाम मैती) आदि को भी 'प्रहार' का हिस्सा बनाना होगा।

Date: 25-02-26

इंटरनेट ने हमारी स्मृति छीनी थी, एआई कल्पनाशीलता न छीन ले

प्रियदर्शन, (लेखक और पत्रकार)

एआई को लेकर हमारा उत्साह कितना वैज्ञानिक है और कितना उपभोक्तावादी? क्या हम एआई से पैदा होने वाली वास्तविक सम्भावनाओं या चुनौतियों के प्रति सचेत हैं? या हम उसे बस इस्तेमाल में आने वाली ऐसी चीज समझ रहे हैं, जिससे हमारा बहुत सारा काम आसान हो जाएगा? या ऐसा खतरा जिससे कई नौकरियां चली जाएंगी? या जिससे नई तरह की नौकरियां पैदा होंगी?

दिल्ली में पिछले दिनों सम्पन्न हुई एआई समिट के दौरान जो चर्चा रही, उससे लगभग यही सारी बातें निकलकर आती रहीं। एआई हमारे लिए खेती आसान कर देगा, कारोबार आसान कर देगा, इलाज आसान कर देगा, कुछ नौकरियां खत्म करेगा तो नई नौकरियां पैदा करेगा।

इस चर्चा में इस उपभोक्तावादी समझ के साथ यह ऐलान भी जुड़ा रहा कि भारत आने वाले वर्षों में एआई क्रांति के पीछे नहीं चलेगा, बल्कि उसको आकार देगा।

इसमें शक नहीं कि एआई बिल्कुल एक ऐसी क्रांति का आगाज है, जिसके वास्तविक परिणामों से हम अब तक अनजान हैं। जानकार इसे औद्योगिक क्रांति से बड़ी बता रहे हैं, जिसके बाद दुनिया बदल गई थी । युवल नोआ हरारी अपनी किताब 'नेक्सस' में इसके खतरों से आगाह कर चुके हैं। उनके मुताबिक एआई सूचनाओं का

परमाणु बम साबित होगा। उससे बड़ी फिक्र यह है कि पहली बार मनुष्य सभ्यता के सामने एक ऐसी मशीन है, जो खुद फैसले कर सकती है। सैन्य उपक्रमों या एटमी अभियानों में इसका इस्तेमाल खतरनाक भी हो सकता है।

एआई की वजह से सूचनाओं को ग्रहण करने की हमारी क्षमता, संवेदना का वहन कर सकने का हमारा अभ्यास काफी कुछ बदल सकते हैं। कृत्रिम मेधा हमारे लिए कविता - उपन्यास भी लिख देगी और टीवी सीरियल भी बना देगी। इस लिहाज से इस नए प्रयोग के आगे हमें कुछ सतर्क -सावधान रहने की जरूरत है। लेकिन हमने माहौल कुछ ऐसा बना रखा है कि इस एआई क्रांति को हर जगह अमल में लाएंगे- शिक्षा हो, स्वास्थ्य हो या कोई दूसरा क्षेत्र । स्कूलों-कॉलेजों में पढ़ाई के लिए नए-नए एआई मॉडल पेश किए जा रहे हैं । लेकिन एआई बच्चों को पढ़ाएगा तो उनका स्वाभाविक विकास हो पाएगा?

स्लेट या कॉपी पर रेखाएं खींचने, आकार बनाने, अक्षर सीखने, वाक्य गढ़ने आदि की जो प्रक्रिया होती है, जिसमें अंगुलियों में फंसी पेंसिल या कलम सहायक होती है और जिसमें कई बार अपना लिखा-रचा मिटाने या काटने की जरूरत भी पड़ती है, वह वास्तविक शिक्षण है । यह शब्द ज्ञान भर नहीं है, या इतिहास-भूगोल, गणित-विज्ञान का ऐसा पाठ नहीं है, जो एआई पढ़ा दे और उसे लेकर बच्चे जीवन के मैदानों में उतर जाएं। कॉपी-पेंसिल रबर से रगड़-रगड़ कर धीरज के साथ सबकुछ सीखने वाले बच्चे जीवन में भी रचने-मिटाने का पाठ सीखते हैं। लेकिन एआई के तराशे हुए ज्ञान से निकले बच्चे उतने ही यांत्रिक हो सकते हैं, जितने कृत्रिम मेधा के मॉडल।

बेशक, तकनीक से डरने की जरूरत नहीं है- यह इतिहास ने बताया है। मगर मेरी तरह के लोगों की फ यह है कि इंटरनेट ने हमारी स्मृति छीन ली एआई हमारी कल्पनाशीलता न छीन ले। अब हम कुछ भी याद नहीं रखते, सब नेट पर खोज लेते हैं- अपनों के नाम-पते- नम्बर और उनके घर तक ले जाने वाले रास्ते तक। तकनीक का अगला आक्रमण हमारी कल्पनाशीलता पर होना है, क्योंकि हम सारे चित्र, सारे नवशे, सारी कलात्मक वस्तुएं एआई से बनवा लेने की कल्पना कर रहे हैं।

एआई का आगमन एक सच्चाई है । इस दुनिया में वैज्ञानिक ढंग से उतरेंगे तो वाकई एआई क्रांति को आकार देने में कुछ योगदान दे पाएंगे। लेकिन अगर कारोबारी या सजावटी दिखावटी ढंग से सोचेंगे तो जगहंसाई ही करवाएंगे।

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date: 25-02-26

अमेरिकी वर्चस्ववाद की सोच और मौजूदा विश्व

श्याम सरन, (लेखक पूर्व विदेश सचिव हैं)

अमेरिकी विदेश मंत्री मार्को रुबियो, जो राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार भी हैं, उन्होंने 14 फरवरी को म्युनिख सुरक्षा सम्मेलन में जो बहुप्रतीक्षित भाषण दिया उससे शायद ज्यादातर यूरोपीय श्रोताओं ने राहत की सांस ली होगी। लेकिन ग्लोबल साउथ के उत्तर औपनिवेशिक और विकासशील देशों के लिए यह गंभीर चिंता का कारण होना चाहिए। उनके वक्तव्य में विजय, शोषण, बर्बरता और यहां तक कि जातीय सफाये के इतिहास का महिमामंडन झलक रहा था, जो एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका में पश्चिमी साम्राज्यवाद और औपनिवेशिक साम्राज्य निर्माण के इतिहास को बताता है। वह इसे गौरव और प्रेरणा का स्रोत बनाना चाहते हैं न कि ऐसी चीज जिसे 'पिछली पीढ़ियों के कथित पापों के रूप में प्रायश्चित किया जाए। गौर करने की बात यह है कि द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के विश्व इतिहास, जिसे अक्सर अमेरिकी युग कहा जाता है, को वास्तव में पश्चिमी पतन का काल माना गया। 1945 में कोलंबस के युग के बाद पहली बार, यह (पश्चिम) सिकुड़ रहा था।

महान पश्चिमी साम्राज्य अपने पतन की ओर बढ़ चुके थे, जिसे नास्तिक साम्यवादी क्रांतियों और उपनिवेश विरोधी विद्रोहों ने और तेज कर दिया। ये विद्रोह दुनिया को बदलने वाले थे और आने वाले वर्षों में मानचित्र के विशाल हिस्सों पर हंसिया और हथौड़े का परचम लहराने वाले थे।

उपनिवेश विरोधी विद्रोह, जिनमें ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के खिलाफ हमारा संघर्ष भी शामिल है, को स्वतंत्रता और मानव गरिमा के संघर्ष के रूप में नहीं देखा जा रहा, बल्कि पश्चिमी शासन इच्छा के त्याग के प्रमाण के रूप में देखा जा रहा। यह अजीब है कि यह सब उस देश के प्रतिनिधि की ओर से आ रहा है जो स्वयं ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के खिलाफ अपनी सफल स्वतंत्रता संग्राम की 250वीं वर्षगांठ मना रहा है। यह अमेरिकी राष्ट्रपति डॉनल्ड ट्रंप की उस इच्छा की प्रतिध्वनि है जिसमें वे अमेरिका को फिर क्षेत्रीय विस्तार के मार्ग पर ले जाना चाहते हैं। संभवतः इसमें ग्रीनलैंड भी शामिल होगा, यद्यपि रुबियो ने इसका उल्लेख नहीं किया। डेनमार्क की प्रधानमंत्री ने पुष्टि की है कि आर्कटिक द्वीप पर अमेरिकी अधिग्रहण का खतरा बना हुआ है। रुबियो ने क्यूबा के स्पेनिश विजेताओं अपनी उत्पत्ति को महिमामंडित करते हुए कहा, 'जिस व्यक्ति ने मेरे जन्मस्थान के राष्ट्र को बसाया और बनाया, वह हमारे तटों पर अपने पूर्वजों के ईसाई विश्वास की स्मृतियां और परंपराएं एक पवित्र धरोहर के रूप में लेकर आया था, जो पुराने और नए विश्व के बीच एक असहय कड़ी थी।

उन्होंने क्यूबा की मूल जनसंख्या के अंधाधुंध नरसंहार का उल्लेख नहीं किया, जबकि ऐसा पूरे अमेरिका में हुआ था। उन्होंने अमेरिका में यूरोपीय प्रवासियों की मेहनत और उन्नत भावना की प्रशंसा की। उन्होंने दक्षिण अमेरिका में कपास के खेतों पर काम करने के लिए लाए गए अश्वेत दासों के पसीने और श्रम को लेकर एक शब्द भी नहीं कहा। उनके वंशज और अफ्रीकी अमेरिकी आबादी, जो अब अमेरिका की जनसंख्या का 14 फीसदी से अधिक हिस्सा हैं, स्पष्ट रूप से उस यूरोपीय विरासत का हिस्सा नहीं हैं जिसका महिमामंडन रुबियो करते हैं। उन्होंने

अभूतपूर्व प्रवासन की लहर की निंदा करते हुए कहा कि 'ये हमारे समाजों की एकता, हमारी संस्कृति की निरंतरता और हमारे लोगों के भविष्य को खतरे में डालती है।'

संभवतः इसमें उनके जैसे यूरोपीय मूल के श्वेत प्रवासियों को शामिल नहीं किया गया है। संक्षेप में, रुबियो के वक्तव्य एक बेशर्म श्वेत, नस्लवादी घोषणापत्र हैं जिन्हें यूरोप और विशेष रूप से ग्लोबल साउथ के लोगों द्वारा उजागर और आलोचना की जानी चाहिए। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यह औपनिवेशिक उद्यम के साथ चलने वाली हिंसा की एक अप्रत्यक्ष वैधता भी है। इसका प्रतिबिंब हमें पश्चिम द्वारा इजरायल के गाजा में नरसंहार और वेस्ट बैंक में जातीय सफाये को बर्दाश्त करने में दिखाई देता है।

यही मानसिकता ईरान के परमाणु स्थलों पर बमबारी और वेनेजुएला जैसे एक संप्रभु देश के राष्ट्राध्यक्ष के अपहरण जैसी खुली आक्रामकता के पीछे भी है यह नव औपनिवेशिक महत्त्वाकांक्षा का घोषणापत्र है, जिसका 21वीं सदी की हमारी दुनिया में कोई स्थान नहीं है। इसे म्यूनिख में एकत्रित तथाकथित उदारवादी पश्चिमी लोकतंत्रों द्वारा अस्वीकार किया जाना चाहिए था और इसकी भर्त्सना होनी चाहिए थी। इसके विपरीत कई लोगों ने रुबियों के वक्तव्यों की सराहना की और उन्हें 'आश्वस्त करने वाला' पाया। इनमें से कई देश, अमेरिका की तरह, बहुलतावादी लोकतंत्र हैं जिनकी बड़ी बहुजातीय जनसंख्या है। उनके यहां कुछ गैर यूरोपीय नागरिक सरकार में वरिष्ठ पदों पर आसीन हैं और विभिन्न क्षेत्रों में पेशेवर के रूप में काम कर रहे हैं। यह सोचने लायक है कि रुबियों के वक्तव्यों और उससे भी अधिक चिंताजनक, उन्हें मिली तालियों को वे कितना आश्वस्तकारी मानते होंगे। आश्चर्यजनक यह है कि अब तक ग्लोबल साउथ देशों की प्रतिक्रिया बहुत ही सुस्त रही है, जबकि उसके कई प्रतिनिधि म्यूनिख में उपस्थित थे। रुबियो के लिए विकासशील विश्व केवल एक बाजार है, जिसमें अमेरिका और यूरोप को 'बाजार हिस्सेदारी हासिल करनी है, न कि शांति और विकास की दिशा में कोई साझेदार बनना है। गुटनिरपेक्ष आंदोलन के उस अत्यंत बदनाम युग में ऐसे नव- औपनिवेशिक और नस्लवादी दृष्टिकोणों की सार्वभौमिक निंदा होती। भारत जैसे देश इस भाषा की निंदा करने और इसके खिलाफ अंतरराष्ट्रीय जनमत जुटाने में अग्रणी भूमिका निभाते। यहां तक कि चीनी विदेश मंत्री वांग यी, जो सम्मेलन में मौजूद थे, ने भी रुबियो के वक्तव्यों को नजरअंदाज किया। केवल दक्षिण अफ्रीका और ब्राजील से कुछ संक्षिप्त आलोचनात्मक टिप्पणियां सामने आई हैं। यह इस बात का प्रमाण है कि आज की दुनिया में विदेश नीति किस हद तक लेन- देन आधारित हो गई है। हम उस खतरनाक दिशा की अनदेखी कर रहे हैं जिसमें एक श्रेष्ठतावादी विचारधारा हमें ले जा रही है।

अशांति का एक और कारण है संयुक्त राष्ट्र और बहुपक्षवाद को अस्वीकार करना । यह एक अराजक और अव्यवस्थित दुनिया की ओर संकेत करता है, जहां हिंसा और हिंसा की धमकी, पसंदीदा साधन बन जाते हैं। जलवायु परिवर्तन के खतरे से निपटने के बहुपक्षीय प्रयास को 'क्लाइमेट कल्ट' को तुष्ट करने के रूप में खारिज कर दिया गया है। यदि किसी प्रमाण की आवश्यकता थी कि हम 'विघटन' के युग में जी रहे हैं, जैसा कि हाल ही में दावोस मंच पर कनाडा के प्रधानमंत्री मार्क कार्नी ने वर्णित किया था, तो इस भाषण से हर शंका दूर हो

जानी चाहिए। भारत इस वर्ष के अंत में ब्रिक्स प्लस शिखर सम्मेलन की मेजबानी करेगा। इस समूह में कुछ प्रमुख शक्तियां शामिल हैं जिनके पास महत्त्वपूर्ण स्वतंत्र सत्ता है और यह निश्चित रूप से केवल पश्चिमी देशों के बीच बांटने के लिए कोई साधारण बाजार नहीं है। इन्हें यह स्पष्ट करना चाहिए कि उभरते वैश्विक व्यवस्था का स्वरूप कैसा होना चाहिए। इन्हें नव- औपनिवेशिक दावों और नस्लवादी पूर्वग्रहों को अस्वीकार करना चाहिए और बहुपक्षवाद तथा संयुक्त राष्ट्र चार्टर के सिद्धांतों और प्रावधानों में अपने विश्वास की पुनः पुष्टि करनी चाहिए। आशा है कि, जैसा अतीत में हुआ है, भारत एक प्रतिगामी और पुरानी विश्व दृष्टि के खिलाफ अंतरराष्ट्रीय जनमत जुटाने में अग्रणी भूमिका निभाएगा, जिसकी रूपरेखा गाजा में नजर आ रही है और जो जल्द ही दुनिया के अन्य हिस्सों में भी फैल सकती है।

Date: 25-02-26

पीपीपी मॉडल को तवज्जो क्यों जरूरी

विनायक चटर्जी, (लेखक बुनियादी ढांचा क्षेत्र के विशेषज्ञ हैं। वह 'द इन्फ्राविजन फाउंडेशन' के संस्थापक और प्रबंध न्यासी भी हैं)

भारत का सार्वजनिक-निजी भागीदारी (पीपीपी) मॉडल एक स्पष्ट सबक देता है। जब इन परियोजनाओं की डिजाइन संतुलित होती है और इनका क्रियान्वयन प्रभावी ढंग से किया जाता है तब वे बुनियादी ढांचा के विकास को नई गति दे सकती हैं लेकिन यदि इनकी संरचना त्रुटिपूर्ण हो तो वही परियोजनाएं वर्षों तक वृद्धि की रफ्तार को बढ़ने नहीं देतीं।

वर्ष 2000 के दशक के बुनियादी ढांचा में उछाल के दौरान विशेषकर राष्ट्रीय राजमार्गों, बिजली, बंदरगाहों और हवाई अड्डों के क्षेत्र में पीपीपी परियोजनाओं ने निर्णायक भूमिका निभाई। ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना (वर्ष 2007-12) के दौरान बुनियादी ढांचा व्यय का लगभग 37 फीसदी हिस्सा निजी निवेश से आया। वर्ष 2009 से 2013 के बीच, नए राष्ट्रीय राजमार्गों का लगभग 60 फीसदी यानी 6,300 किलोमीटर से अधिक सड़कें, टोल आधारित 'बिल्ड ऑपरेट ट्रांसफर' (बीओटी) मॉडल के तहत पीपीपी के माध्यम से तैयार की गई। हालांकि यह रफ्तार अधिक समय तक कायम नहीं रह सकी। 2010 के दशक के मध्य तक अनेक पीपीपी परियोजनाएं धीमी पड़ गईं, वित्तीय संकट में फंस गईं या भुगतान चूक वाली स्थिति में पहुंच गईं। इसके अलावा डेवलपर को भूमि अधिग्रहण और मंजूरी मिलने में देरी, यातायात वृद्धि में कमी, अत्यधिक ऋण भार और बढ़ती लागत जैसी चुनौतियों का सामना करना पड़ा। कई कंपनियों ने बहुत कम टोल दरों का अनुमान

लगाकर आक्रामक बोली लगाई। इससे वे परियोजनाएं तो जीत गईं लेकिन बाद में कम आमदनी के कारण उनकी आर्थिक स्थिति कमजोर हो गई और उनकी बैलेंसशीट पर बुरा असर पड़ा।

सबसे महत्वपूर्ण बात यह रही कि इसमें जोखिम का बंटवारा संतुलित नहीं था। अत्यधिक जोखिम वाले पहलू निजी क्षेत्र पर डाल दिए गए और अनुबंधों को लगभग अपरिवर्तनीय माना गया। औपचारिक तौर पर दोबारा विचार या दोबारा समझौते की व्यवस्था न होने के कारण मूल रूप से व्यवहारिक परियोजनाएं भी अटक गईं। जैसा कि केलकर समिति (2015) ने भी चेतावनी दी थी, 'जोखिम का अक्षम और असमान वितरण पीपीपी परियोजनाओं की विफलता का एक प्रमुख कारण बन सकता है।' इस वर्ष के केंद्रीय बजट में एक बार फिर अवसंरचना को विकास का प्रमुख इंजन बताते हुए परिवहन, शहरी विकास, आवास, लॉजिस्टिक्स और वित्तीय फंडिंग के क्षेत्रों में अनेक पहल की घोषणा की गई है। लेकिन इसमें भारत के बुनियादी ढांचा रणनीति के सामने खड़े सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न को नजरअंदाज किया गया है कि देश पीपीपी को बुनियादी ढांचा विकास के केंद्रीय स्तंभ के रूप में कैसे फिर से बहाल करेगा ? यह चूक वैचारिक नहीं बल्कि संरचनात्मक है। सार्वजनिक वित्त की अपनी सीमाएं हैं। राज्य सरकारें और शहर पहले से ही वित्तीय दबाव में हैं। शहरी परिवहन, जल आपूर्ति, स्वच्छता, बिजली और लॉजिस्टिक्स जैसी बुनियादी ढांचा आवश्यकताएं बजटीय क्षमता से कहीं तेजी से बढ़ रही हैं। ऐसे हालात में पीपीपी कोई विकल्प नहीं बल्कि अनिवार्यता है। फिर भी हाल के वर्षों में निजी भागीदारी अपने पूर्व उच्च स्तर से घटकर लगभग 20-22 फीसदी पर आ गई है (आर्थिक सर्वेक्षण 2024) । अगर इस रुझान को नहीं बदला गया तब भारत की बुनियादी ढांचा महत्वाकांक्षा केवल आकांक्षा बनकर रह सकती है। सरकार ने हाल ही में तीन वर्षों के लिए 852 परियोजनाओं की पीपीपी पाइपलाइन की घोषणा की है जिनका कुल मूल्य लगभग 17 लाख करोड़ रुपये है। इनमें से 232 केंद्रीय परियोजनाएं लगभग 13.15 लाख करोड़ रुपये की हैं जबकि शेष 620 परियोजनाएं राज्यों और केंद्र शासित प्रदेशों से संबंधित हैं। राष्ट्रीय राजमार्गों का इसमें सबसे बड़ा हिस्सा है और सड़क परिवहन एवं राजमार्ग मंत्रालय अकेले लगभग 8.77 लाख करोड़ रुपये की 108 परियोजनाओं की योजना बना रहा है। इसके अतिरिक्त बिजली, जल, बंदरगाह, हवाई अड्डों, रेलवे और शहरी बुनियादी ढांचा के क्षेत्रों में भी बड़े पैमाने पर परियोजनाएं प्रस्तावित हैं। आंध्रप्रदेश, तमिलनाडु और उत्तर प्रदेश जैसे राज्यों ने भी सैकड़ों परियोजनाएं सूचीबद्ध की हैं।

एक विश्वसनीय पीपीपी व्यवस्था की पुनर्बहाली के लिए स्पष्ट सुधार एजेंडा आवश्यक है। नौ महत्वपूर्ण सुधारों पर ध्यान केंद्रित करना जरूरी है।

1. वास्तविक जोखिम वितरण : जोखिम उन्हीं पर होने चाहिए जो उन्हें सबसे बेहतर तरीके से इसका प्रबंधन कर सकते हैं। सरकारों पर भूमि, स्वीकृति और नीतिगत जोखिम की जिम्मेदारी रहनी चाहिए जबकि निजी भागीदारों को निर्माण और संचालन के जोखिम को तय सीमाओं के भीतर संभालना चाहिए।

2. पूर्वनिर्धारित पुनर्विचार ढांचे : अनुबंधों में संरचनात्मक पुनर्विचार की अनुमति होनी चाहिए जिसमें पूर्वनिर्धारित परिस्थितियां हों और पारदर्शिता एवं स्वतंत्र निगरानी सुनिश्चित की जाए।

3. मजबूत पीपीपी संस्थाएं : क्षमता निर्माण और मॉडल विकास के लिए नए सिरे से बहाल संस्थागत ढांचा जरूरी है, जैसे कि इन्फ्रास्ट्रक्चर फाइनैंस सेक्रेटेरियट को मजबूत किया जाए या फिर 3पी इंडिया को नए सिरे से खड़ा किया जाए।

4. सरल और तेज परियोजना मूल्यांकन : परियोजनाओं की जांच और मंजूरी तेज, पारदर्शी और भरोसेमंद होनी चाहिए और इनका पीएम गतिशक्ति के साथ एकीकरण होना चाहिए जिससे निवेशक आसानी से निवेश कर सकें।

5. वित्तीय समर्थन एवं ऋण सुधार : व्यावहारिक लागत अंतर फंडिंग, प्रस्तावित बुनियादी ढांचा जोखिम गारंटी फंड और नैशनल बैंक फॉर इन्फ्रास्ट्रक्चर डेवलपमेंट द्वारा ऋण की सुरक्षा बढ़ाना ऋण की लागत को काफी कम कर सकता है।

6. नियामकीय निश्चितता और विवाद निवारण : स्थिर शुल्क, स्वतंत्र नियामक और तेज विवाद समाधान प्रणाली अपरिहार्य हैं।

7. राज्यों और शहरों को सशक्त बनाना : राज्य पीपीपी सेल, परियोजना- तैयारी सुविधाएं और सुधार से जुड़े प्रोत्साहन मजबूत किए जाने चाहिए। लंबी अवधि के सब्सिडी वाले राज्य ऋण को सीधे पीपीपी सुधारों से जोड़ना लाभकारी होगा।

8. निवेशक सहभागिता में सक्रियता : भरोसा बहाल करने के लिए सफलता की कहानियों को प्रचारित करना, निवेशकों से सक्रिय रूप से संवाद करना और पारदर्शिता सुनिश्चित करना आवश्यक है।

9. नए क्षेत्रों में पीपीपी का विस्तार : विभिन्न क्षेत्रों जैसे शहरी परिवहन, जल, अपशिष्ट, स्वास्थ्य, शिक्षा, पर्यटन और ऊर्जा संक्रमण के लिए विशेष पीपीपी मॉडल तैयार करना जरूरी है।

जो सबसे महत्त्वपूर्ण बात बजट या योजनाओं में गायब है, वह यह मान्यता है कि पीपीपी ही वह मूल सिद्धांत होनी चाहिए जो सार्वजनिक निवेश, निजी वित्त, जोखिम वितरण और दीर्घकालीन सेवा प्रदान करने को एक साथ जोड़े। उदाहरण के लिए, अर्बन चैलेंज फंड पर विचार करें जो परियोजना लागत के 25 फीसदी तक की फंडिंग करेगा जबकि शेष राशि बॉन्ड, बैंक ऋण और पीपीपी के माध्यम से जुटाई जाएगी। या फिर 'सिटी इकनॉमिक रीजन' जिनमें से प्रत्येक को अगले पांच वर्षों में लगभग 5,000 करोड़ रुपये का समर्थन मिलेगा।

नगर निगम बॉन्डों के लिए बजट की पहल स्वागत योग्य है। 1,000 करोड़ रुपये से अधिक के एकल निर्गम पर लगभग 100 करोड़ का प्रोत्साहन और 200 करोड़ तक के निर्गम पर एएमआरयूटी से जुड़ा समर्थन यह संकेत देता है कि शहरी पूंजी बाजार को गहरा किया जाना है। भारत की अवसंरचना चुनौती अब केवल संपत्ति निर्माण तक सीमित नहीं है। यह जोखिम प्रबंधन, जीवनचक्र दक्षता, संचालन और रखरखाव, और सेवा गुणवत्ता से जुड़ी

है। भारत में पहले हुए पीपीपी असफलताओं की वजह डिजाइन और प्रशासन में कमजोरी थी न कि सिद्धांत में समाधान यह नहीं कि पीपीपी से पीछे हट जाएं बल्कि इसमें निर्णायक रूप से सुधार लाना है।

विकसित भारत की दिशा में बढ़ते हुए, भारत को यह सच्चाई स्वीकार करनी होगी कि केवल सार्वजनिक निवेश पर्याप्त नहीं होगा। पीपीपी की नए सिरे से बहाली निजीकरण नहीं बल्कि साझेदारी है। देश की अवसंरचना यात्रा का अगला चरण केवल कंक्रीट और इस्पात से नहीं बल्कि भरोसेमंद अनुबंधों, संतुलित जोखिम वितरण और संस्थागत विश्वास के साथ बनाया जाना चाहिए। यही वह बदलाव है जिसमें देश अब और विलंब नहीं कर सकता।

Live हिन्दुस्तान .com

Date: 25-02-26

ताकि नक्सलवाद फिर न पनप पाए

दिलीप त्रिवेदी, (सेवानिवृत्त महानिदेशक, केंद्रीय रिजर्व पुलिस बल)

दुर्दांत नक्सली थिप्पिरी तिरुपति उर्फ देवुजी का आत्मसमर्पण लाल गलियारे के सिमटने का एक और बड़ा उदाहरण है। देवजी का हथियार डालना कितनी अहमियत रखता है, इसका पता इससे भी चलता हैकि पिछले साल मई में बसवाराजू के एनकाउंटर में मारे जाने के बाद देवजी को ही नक्सल संगठन भाकपा (माओवादी) का अगला महासचिव माना जा रहा था। वह केंद्रीय समिति व पोलित ब्यूरो के सदस्य के रूप में अपनी जिम्मेदारी निभा चुका है और कई राज्यों में माओवादी योजना को अंजाम तक पहुंचाने व समन्वय बनाने का काम भी कर चुका है।

जाहिर है, नक्सलवाद अब लगभग नेतृत्वहीन हो चुका है। यह आत्मसमर्पण उस सूबे (तेलंगाना) में हुआ है, जो पीपुल्स वार ग्रुप (पीडब्ल्यूजी) का उद्गम स्थल रहा है। यहीं से यह संगठन पश्चिम बंगाल व बिहार पहुंचा और वहां के नक्सली आंदोलन की रीढ़ बना । तेलंगाना से ही पीडब्ल्यूजी के लड़ाके छत्तीसगढ़ में भी फैले, जहां सुरक्षा बलों पर सबसे घातक हमले हुए हैं। असल में, छत्तीसगढ़ इस आंदोलन का गढ़ इसलिए बना, क्योंकि यहां की भौगोलिक स्थिति व आदिवासियों की बड़ी आबादी नक्सलियों के अनुकूल थी। बस्तर तो भौगोलिक रूप से तेलंगाना से जुड़ा हुआ है, जो इस आंदोलन का मुख्य केंद्र रहा है। ऐसे में, देवजी का आत्मसमर्पण तेलंगाना और छत्तीसगढ़, दोनों राज्यों में नक्सली गतिविधियों को एक बड़ा झटका है।' | सुरक्षा बलों के लिए तो यह एक बड़ी उपलब्धि है ही ।

देवजी संगठन का एक प्रमुख रणनीतिकार था। वह तेलंगाना और छत्तीसगढ़ में सुरक्षा बलों पर हमले करने सहित कई बड़ी कार्रवाइयों का हिस्सा रहा है। नए लड़ाकों की भर्ती करने और आदिवासियों को वामपंथी उग्रवाद की विचारधारा से जोड़ने में वह विशेष सक्रिय रहा है। उसका दायरा तेलंगाना और छत्तीसगढ़, दोनों राज्यों में फैला था। संभवतः इसी कारण उस पर कुल 1.25 करोड़ रुपये का इनाम रखा गया था। माना जा रहा है कि केंद्र सरकार की मार्च 2026 तक नक्सलवाद के खात्मे और सख्त सुरक्षात्मक रणनीति का नतीजा है कि नक्सली नेतृत्व बीते कुछ महीनों से या तो हथियार डाल रहे हैं या फिर सुरक्षा बलों के हत्थे चढ़ जा रहे हैं।

इसका यह भी अर्थ है कि एक लंबे समय के बाद यह आंदोलन कमजोर पड़ता दिख रहा है। निस्संदेह, सुरक्षा बलों ने इसके लिए काफी पसीना बहाया है। पहले इनका आकार बहुत छोटा था और जवानों के हाथों में जो हथियार थे, वे भी पुराने थे। तब राज्य पुलिस के भी हाथ बंधे हुए थे, क्योंकि मध्य प्रदेश से अलग होने के बाद छत्तीसगढ़ को अपने 'जनक राज्य' से उचित सहायता नहीं मिली थी। बाद में, केंद्र सरकार ने वहां आधुनिकीकरण पर जोर दिया और बेहतर हथियारों एवं प्रशिक्षण की व्यवस्था की। उसने इसके लिए आर्थिक मदद की।

विशेषकर सीआरपीएफ व सीएपीएफ की क्षमताओं को बेहतर बनाना और वामपंथी उग्रवाद का मुकाबला करने के लिए खास बटालियन (कोबरा) का निर्माण फायदेमंद साबित हुआ है। इतना ही नहीं, सुदूर इलाकों में सड़कों का जाल बिछाया गया और दूरसंचार के माध्यम से उनको मुख्य इलाकों से जोड़ने का प्रयास हुआ । माओवादी गढ़ में दाखिल होकर सुरक्षा शिविर बनाने की पुरानी नीति ने भी अपना प्रभाव दिखाया। इन सबके कारण स्थानीय आदिवासी समूह नक्सलवाद से छिटकने लगे। अब तो वामपंथी उग्रवादी संगठनों के लिए नए रंगरूट मिलने भी मुश्किल हो गए हैं।

यहां मुझे 2013 के वे दिन याद आते हैं, जब यह आंदोलन काफी उग्र था। मैं तब सीआरपीएफ में बतौर महानिदेशक अपनी सेवा दे रहा था। उस समय छत्तीसगढ़ में राज्य विधानसभा चुनाव कराने की जिम्मेदारी हमें मिली, जिसके बाद आम चुनाव भी हुए थे । इन चुनावों में हमें नक्सलियों को रुकावट पैदा करने से हर हाल में रोकना था। इसके लिए कई जगहों पर पोलिंग पार्टी आखिरी दिन भेजी गई, जबकि अन्य लोगों को पहले ही हेलीकॉप्टर से मतदान केंद्रों पर उतार दिया गया। ऐसा इसलिए किया गया था, ताकि अंतिम समय में लंबी 'मूवमेंट' न हों और वे नक्सलियों का निशाना न बनें। इतना ही नहीं, पोलिंग पार्टी पुलिस की गाड़ी में नहीं भेजी गई, क्योंकि उनकी पहचान जाहिर होने का खतरा था। फिर, जहां-जहां चुनाव न कराने की धमकी मिली थी, वहां-वहां उप-चुनाव कराने की नीति अपनाई गई, ताकि अधिक से अधिक सुरक्षा बलों का मतदान केंद्रों पर इस्तेमाल हो सके। कोबरा बटालियन भी मैदान में उतारी गई थी।

अब जब माओवादियों की कमर टूट चुकी है, हमारा ध्यान आदिवासियों को बेहतर रोजगार उपलब्ध कराने पर होना चाहिए। अच्छी आजीविका के लिए उन्हें स्थानीय शिल्पकला विकसित करने के लिए भी प्रोत्साहित किया जा सकता है। इन सबके साथ पर्यटन को भी बढ़ाना देना चाहिए, जिससे क्षेत्र में समृद्धि के द्वार खुल सकेंगे। पूर्व उग्रवादियों के पुनर्वास की नीति हमारे पास पहले से है, इसलिए अब बुनियादी ढांचे के विकास पर हमें

संजीदगी दिखानी होगी। इन इलाकों के खनिकों को विस्फोटक सामग्री की आपूर्ति पर भी प्रभावी नियंत्रण बनाना आवश्यक है, ताकि नक्सली उनका बेजा इस्तेमान न कर सकें।

जिन वजहों से इस हिंसक आंदोलन ने इतनी व्यापकता पाई, उनको खत्म करना आवश्यक है। वास्तव में, आदिवासियों में अलगाव व शोषण की भावना से इस आंदोलन को बल मिला है। पुलिस बल की कमी और हथियारों व विस्फोटकों की आसान उपलब्धता ने उग्रवाद को बढ़ाने में योगदान दिया है। हालांकि, अब सुरक्षा से जुड़े कई मुद्दों का समाधान हो चुका है और शीर्ष नेतृत्व की प्रतिबद्धता में कमी आने से इस आंदोलन के प्रति वैचारिक आकर्षण भी कमजोर हुआ है। लिहाजा, यह कहना उचित होगा कि यह आंदोलन अब अंतिम सांसें गिन रहा है और इसके पुनर्जीवित होने की आशंका नहीं है।

अब नक्सलवाद विरोधी इस मॉडल को पूर्वोत्तर में भी लागू करने की मांग हो रही है। हालांकि, यह नहीं किया जा सकता, क्योंकि हर जगह के स्थानीय मुद्दे अलग-अलग होते हैं। हमें यह भी समझना होगा कि आदिवासियों की निष्ठा बेहद मजबूत होती है और वह बाहरी लोगों से प्रभावित नहीं होती। हालांकि, पर्यटन को बढ़ावा देने, बेहतर समन्वय स्थापित करने और विकास निधि के दुरुपयोग को रोकने पर अतिवादी सोच का काफी हद तक नियंत्रण पाया जा सकता है।